IJISEM
INTERNATIONAL JOURNAL OF INNOVATIONS IN SCIENCE ENGINEERING AND MANAGEMENT

International Journal of Innovations In Science Engineering And Management

Check for updates

OPEN ACCESS

Volume: 5

Issue: 3

Month: July

Year: 2026

ISSN: 2583-7117

Published: 15.07.2026

Citation:

Ankit Rajal "मध्यकालीन भारत में मंदिर अर्थव्यवस्था और स्थानीय समाज: संरक्षण, भूमि तथा अनुष्ठानिक शक्ति का ऐतिहासिक विश्लेषण" International Journal of Innovations in Science Engineering and Management, vol. 5, no. 3, 2026, pp. 90-96

DOI:

10.69968/ijisem.2026v5i390-96

This work is licensed under a Creative Commons Attribution-Share Alike 4.0 International License

मध्यकालीन भारत में मंदिर अर्थव्यवस्था और स्थानीय समाज: संरक्षण, भूमि तथा अनुष्ठानिक शक्ति का ऐतिहासिक विश्लेषण

Ankit Rajal[1]

[1]*Research Scholar (M.A.History) University- IGNOU Regional center- Chandigarh 06, ankitrajal8253@gmail.com*

सारांश

मध्यकालीन भारत के मंदिरों को केवल पूजा-स्थल के रूप में देखना उनके ऐतिहासिक महत्व को सीमित कर देता है। विशेषतः सातवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच मंदिर भूमि-अनुदान, कृषि-अधिशेष, दान, शिल्प, व्यापार, रोजगार, लेखांकन और स्थानीय प्रशासन को जोड़ने वाले संस्थागत केंद्र बने। यह शोध-पत्र मंदिर अर्थव्यवस्था की संरचना का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट करता है कि राजकीय संरक्षण और निजी दान ने मंदिरों को संसाधनों का स्वामी ही नहीं बनाया, बल्कि उन्हें स्थानीय समाज में संसाधन-वितरण, प्रतिष्ठा-निर्माण और विवाद-नियमन की क्षमता भी प्रदान की। ब्रह्मदेय, देवदान, देवद्रव्य और कर-मुक्त ग्रामों से जुड़ी व्यवस्थाओं ने कृषि-विस्तार तथा ग्रामीण संगठन को प्रोत्साहित किया, किंतु साथ ही अधिकारों की असमानता, श्रम-अधीनता और जातिगत अनुक्रम को भी सुदृढ़ किया। चोल, पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, पाल, सेन, गहड़वाल और राजपूत संदर्भों की तुलना से यह सामने आता है कि मंदिरों की आर्थिक भूमिका क्षेत्रानुसार भिन्न थी; फिर भी भूमि, अनुष्ठान और राजनीतिक वैधता के बीच अंतर्संबंध व्यापक रूप से विद्यमान रहा। अभिलेखीय, स्थापत्य और आधुनिक इतिहासलेखन के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित यह लेख मंदिर को एक बहुस्तरीय संस्था के रूप में व्याख्यायित करता है, जहाँ पवित्रता और भौतिक संसाधन परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे को वैधता देने वाली शक्तियाँ थीं।

मुख्य शब्द: मंदिर अर्थव्यवस्था, भूमि-अनुदान, संरक्षण, स्थानीय समाज, अनुष्ठानिक शक्ति, मध्यकालीन भारत, मंदिर-नगर

प्रस्तावना

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में मंदिर एक ऐसी संस्था थी जहाँ धर्म, अर्थ, राजनीति और समाज परस्पर जुड़े हुए थे। देवप्रतिमा की प्रतिष्ठा मंदिर को धार्मिक केंद्र बनाती थी, किंतु निरंतर पूजा, दीप, नैवेद्य, उत्सव, संगीत, शिक्षा और अतिथि-सत्कार के लिए स्थायी संसाधनों की आवश्यकता होती थी। यह आवश्यकता भूमि-अनुदान, नकद दान, पशुधन, धान, स्वर्ण, आभूषण, कर-अंश और श्रम-सेवाओं की जटिल व्यवस्था को उत्पन्न करती थी। परिणामस्वरूप, मंदिर स्थानीय उत्पादन और अधिशेष के संचयन का केंद्र बन गया, जिसके चारों ओर बाजार, सेवा-समूह और बस्तियाँ विकसित हुईं (स्टीन, 1960; हाइट्ज़मैन, 1987)।

मंदिर अर्थव्यवस्था का तात्पर्य किसी स्वतंत्र धार्मिक अर्थतंत्र से नहीं है। यह स्थानीय कृषि, राजस्व, विनिमय, व्यापार और श्रम-संबंधों में मंदिर की संस्थागत संलग्नता को दर्शाता है। हाल के अनुसंधानों ने मंदिर-नगरों को ऐसे केंद्रों के रूप में परिभाषित किया है जहाँ धार्मिक आकर्षण और सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों ने स्थानिक विकास को प्रभावित किया (गुप्ता, गहलोत एवं मित्रा, 2025)।

अतः मंदिर का अध्ययन केवल स्थापत्य या भक्ति के इतिहास तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि इसे संसाधन-अधिकार, सामाजिक प्रतिष्ठा और राजनीतिक प्रभुत्व की प्रक्रिया के रूप में भी समझा जाना चाहिए।

अनुसंधान की पृष्ठभूमि

प्रारंभिक इतिहास लेखन में मंदिर की आर्थिक भूमिका को मुख्यतः विशाल भूमि-संपत्ति और दान के आधार पर समझा गया। बाद में, बर्टन स्टीन ने मंदिर को कृषि-प्रधान समाज में अधिशेष के संग्रह और पुनर्वितरण से जोड़ते हुए उसकी आर्थिक केंद्रीयता पर बल दिया।

जेम्स हाइट्ज़मैन ने चोल क्षेत्र के संदर्भ में प्रदर्शित किया कि मंदिर के दानदाताओं, सेवकों, ग्राम-सभाओं, व्यापारियों और राजसत्ता के बीच लेन-देन का नेटवर्क मंदिर-आधारित नगरीकरण का आधार बन सकता था (स्टीन, 1960; हाइट्ज़मैन, 1991)।

भारतीय सामंतवाद, खंडित राज्य और क्षेत्रीय राज्य-निर्माण से संबंधित विवादों ने भूमि-अनुदानों की व्याख्या को प्रभावित किया। एक दृष्टिकोण ने कराधिकार के हस्तांतरण को कृषकों की अधीनता और स्थानीय प्रभुओं के उभार से जोड़ा, जबकि दूसरे दृष्टिकोण ने इन अनुदानों को कृषि-विस्तार, नई बस्तियों, सांस्कृतिक एकीकरण और क्षेत्रीय सत्ता की स्थापना का साधन माना (चट्टोपाध्याय, 2020)। नवीनतम शोध इन दोनों ध्रुवों के बीच स्थानीय विविधता, दानदाताओं की बहुलता और मंदिरों के विभिन्न आकार तथा क्षमता को महत्व देता है (सिंह, 2024; गिलेट, 2024)।

अध्ययन का लक्ष्य

इस अध्ययन का उद्देश्य मध्यकालीन भारत में मंदिरों की आर्थिक और सामाजिक भूमिका का बहुआयामी विश्लेषण करना है। इसमें चार केंद्रीय प्रश्न हैं: प्रथम, भूमि और राजस्व अधिकार मंदिर को किस प्रकार स्थायी आर्थिक शक्ति प्रदान करते थे; द्वितीय, राजकीय और गैर-राजकीय संरक्षण स्थानीय प्रतिष्ठा और सत्ता संबंधों को कैसे परिवर्तित करता था; तृतीय, अनुष्ठान किस प्रकार संसाधन संचयन और राजनीतिक वैधता को सार्वजनिक रूप देता था; और चतुर्थ, मंदिर व्यवस्था ने कृषकों, व्यापारियों, शिल्पकारों, स्त्री सेवा समूहों और निम्न सेवागत समुदायों के जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया।

अनुसंधान समस्या

मुख्य शोध समस्या यह है कि मंदिर को केवल लोककल्याणकारी संस्था या केवल शोषक भूमिधर के रूप में देखना दोनों ही अधूरे निष्कर्ष हैं। एक ही मंदिर सिंचाई, रोजगार, उत्सव और विनिमय को प्रोत्साहित कर सकता था, किंतु उसी व्यवस्था में कर-संग्रह, अनिवार्य सेवा, जातिगत पृथक्करण और संसाधनों पर अभिजात नियंत्रण भी विद्यमान हो सकता था। अतः यह जानना आवश्यक है कि संरक्षण, भूमि और अनुष्ठानिक अधिकार किस सामाजिक समूह के हाथ में थे, उनसे किसे लाभ मिला और किस पर दायित्व आरोपित हुए।

अनुसंधान विधि

यह अध्ययन ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक पद्धति पर आधारित है। प्राथमिक स्रोतों में शिलालेख, ताम्रपत्र, मंदिर-दीवार अभिलेख, दानपत्र और पुरातात्त्विक स्थल-विन्यास शामिल हैं। दक्षिण भारतीय अभिलेख विशेष रूप से दान की मात्रा, भूमि-सीमा, कर, सिंचाई, दीप-व्यवस्था, अनुष्ठान और कर्मचारियों से संबंधित विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा प्रकाशित दक्षिण भारतीय अभिलेख-श्रृंखलाएँ और एपिग्राफिया इंडिका इस प्रकार की सामग्री के प्रमुख संग्रह हैं (भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, 2021)।

द्वितीयक स्रोतों में 2020 से 2025 के अनुसंधान को प्राथमिकता दी गई है, और मंदिर अर्थव्यवस्था के आधारभूत प्रतिमानों के लिए स्थापित इतिहासकारों के कार्यों का उपयोग किया गया है। स्रोतों की आलोचना करते समय यह ध्यान में रखा गया है कि अभिलेख दानदाता की प्रतिष्ठा और धार्मिक पुण्य को उजागर करते हैं; वे कृषकों के प्रतिरोध, श्रम की कठिनाइयों या बहिष्कृत समुदायों के अनुभवों को समान विस्तार से नहीं दर्शाते। इसलिए, अभिलेखीय मौन को भी ऐतिहासिक तथ्य के रूप में पढ़ना आवश्यक है।

मध्यकालीन भारत में मंदिर संस्थान की संरचना

मंदिर का संस्थागत स्वरूप उसके आकार, देवता, क्षेत्र और संरक्षक के अनुसार परिवर्तित होता था। छोटे ग्राम-मंदिर सीमित भूमि और स्थानीय दान पर निर्भर हो सकते थे, जबकि राजकीय मंदिर अनेक ग्रामों, बाजार-करों, स्वर्ण-निधियों और व्यापक सेवक-वर्ग से जुड़े होते थे। मंदिर के दैनिक संचालन में अर्चक, प्रबंधक, कोषाध्यक्ष, लेखाकार, रसोइए, पुष्प-संग्राहक, माली, जलवाहक, प्रहरी, संगीतकार, नर्तक, शिल्पी और सफाईकर्मी शामिल थे। इस संगठन का तात्पर्य था कि देवपूजा स्वयं एक नियमित आर्थिक प्रक्रिया बन गई थी।

मंदिर प्रबंधन सामान्यतः ग्राम-सभा, ब्राह्मण सभा, नगर, व्यापारी संघ या नियुक्त अधिकारियों के सहयोग से संचालित होता था। दान का अभिलेखन सार्वजनिक दीवारों पर करने से संस्था की जवाबदेही और दानदाता की स्मृति दोनों को स्थायित्व मिलता था। इस प्रकार, मंदिर का पवित्र परिसर लेखा, अनुबंध और सार्वजनिक घोषणा का स्थल भी था (हाइट्ज़मैन, 1991; गिलेट, 2024)।

मंदिर अर्थव्यवस्था की संकल्पना

मंदिर अर्थव्यवस्था को तीन स्तरों में विभाजित किया जा सकता है। पहला स्तर संसाधन-अर्जन है, जिसमें भूमि, कर, पशु, धान, स्वर्ण और वस्त्र-दान शामिल हैं। दूसरा स्तर संसाधन-प्रबंधन है, जहाँ भूमि पट्टे पर दी जाती है, पूँजी पर ब्याज लिया जाता है, धान भंडारित किया जाता है और विशेष अनुष्ठानों के लिए आय निर्धारित की जाती है। तीसरा स्तर पुनर्वितरण है, जिसमें कर्मचारियों का निर्वाह, निर्माण, मरम्मत, अन्नदान, उत्सव, यात्रियों की सेवा और स्थानीय खरीद शामिल हैं।

यह प्रणाली आधुनिक अर्थ में केंद्रीकृत बैंक या कल्याणकारी राज्य नहीं थी। इसका मुख्य उद्देश्य देवता की सेवा और संस्था की

प्रतिष्ठा बनाए रखना था। फिर भी, इस उद्देश्य की पूर्ति से अनेक आर्थिक गतिविधियाँ उत्पन्न होती थीं। मंदिर ने पवित्र दान को दीर्घकालिक आय में परिवर्तित करने की क्षमता विकसित की; इसी कारण दानदाता अपने संसाधन को धार्मिक पुण्य, सामाजिक स्मृति और राजनीतिक प्रभाव—तीनों में रूपांतरित कर सकता था (गालेविच, 2023)।

भूमि अनुदान एवं मंदिरों की वित्तीय शक्ति

मध्यकालीन मंदिर की स्थायी आर्थिक आधार भूमि थी। देवदान या देवद्रव्य के रूप में देवता को समर्पित भूमि से प्राप्त उपज, किराया या कर मंदिर के अनुष्ठानों के लिए निर्धारित रहता था। ब्रह्मदेय सामान्यतः ब्राह्मणों को दी गई भूमि या ग्राम को दर्शाता था; दक्षिण भारत में ऐसे ग्रामों की सभाएँ मंदिरों के प्रबंधन और कृषि-विस्तार में सक्रिय रहीं। अनेक अनुदान कर-मुक्त थे या उनमें विशिष्ट राजस्व-अधिकार हस्तांतरित किए जाते थे। किंतु भूमि-अनुदान का अर्थ पूर्ण निजी स्वामित्व हर जगह समान नहीं था; इसमें उपभोग, कर-संग्रह, सिंचाई और श्रम पर अधिकारों का अलग-अलग संयोजन हो सकता था (चट्टोपाध्याय, 2020; सिंह, 2024)।

ताम्रपत्रों और अभिलेखों में खेतों की सीमाओं, जल-स्रोतों, वृक्षों, मार्गों, पड़ोसी ग्रामों, देय करों तथा उल्लंघन की स्थिति में धार्मिक दंडों का विवरण दर्ज किया जाता था। ऐसी सूक्ष्मता से स्पष्ट होता है कि दान केवल प्रतीकात्मक घोषणाएँ नहीं थे, बल्कि स्थानीय अधिकारों के पुनर्गठन का माध्यम भी थे। भूमि-अनुदानों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भूमि-दान ने स्थानीय क्षेत्रों की पहचान और छोटे राजनीतिक केंद्रों की स्थापना को प्रोत्साहित किया (दास, 2023)।

भूमि की आय ने मंदिर को स्थायित्व प्रदान किया, किंतु इसका सामाजिक प्रभाव असमान था। दानदाता पुण्य और यश अर्जित करता, मंदिर आय प्राप्त करता और प्रबंधक वर्ग अधिकार संपन्न होता; दूसरी ओर कृषक पूर्ववत भूमि जोतते हुए नए कर-ग्राही या सेवा-दायित्व का सामना कर सकते थे। अतः भूमि-अनुदान कृषि-विस्तार और संस्थागत स्थिरता का साधन था, किंतु इसमें अधिशेष पर नियंत्रण का प्रश्न अंतर्निहित रहा।

दान, उपहार और धार्मिक संरक्षण की परंपरा

राजा मंदिर का प्रमुख संरक्षक था, किंतु वह एकमात्र दानदाता नहीं था। रानियाँ, सामंत, सैनिक अधिकारी, ब्राह्मण, व्यापारी, शिल्पी, पशुपालक और स्थानीय परिवार भी दीप, भोजन, उत्सव, भूमि, धन या आभूषण दान करते थे। दान का आकार सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न था, परंतु अभिलेख में नाम अंकित होना स्थानीय स्मृति और सम्मान का माध्यम था। मालवा के अभिलेख दर्शाते हैं कि धार्मिक संरक्षण सामाजिक समूहों की भागीदारी और प्रतिष्ठा-प्रतिस्पर्धा से संबंधित था, न कि केवल राजकीय नीति से (घटक, 2023)।

दान को केवल निष्काम धार्मिक क्रिया मानना अपर्याप्त है। यह प्रतिदान की एक सांस्कृतिक व्यवस्था थी जिसमें दाता पुण्य, प्रतिष्ठा, स्मृति और देवकृपा की अपेक्षा करता था। राजाओं के लिए मंदिर निर्माण विजय को धर्मसम्मत शासन में परिवर्तित करता था; व्यापारियों के लिए यह स्थानीय समाज में स्वीकृति और विश्वसनीयता प्राप्त करने का साधन बन सकता था। इस प्रकार संरक्षण ने आर्थिक संसाधन को प्रतीकात्मक पूँजी में रूपांतरित किया।

मंदिर, कृषि प्रणाली और स्थानीय उत्पादन

मंदिरों की आय कृषि से संबंधित होने के कारण वे जल, भूमि सुधार और उत्पादन की स्थिरता में रुचि रखते थे। अनेक दानों में तालाब, नहर, कुआँ, जल-उठाने की व्यवस्था या सिंचाई कर का उल्लेख मिलता है। मंदिर या उससे संबंधित सभा कभी-कभी बंजर भूमि को जोतने, नई बस्तियों को प्रोत्साहित करने और जलाशयों की मरम्मत के लिए संसाधन आवंटित करती थी। पश्चिमी भारत में भूमि अनुदान और सिंचाई सुविधाओं के विस्तार ने बाजार योग्य अधिशेष तथा मंडपिका और हाट जैसे विनिमय केंद्रों के विकास में योगदान दिया (गुप्ता, 2020)।

हालांकि, मंदिर को कृषि का प्रत्यक्ष उत्पादक मानना हर दृष्टिकोण से उचित नहीं है। वास्तविक उत्पादन प्रायः कृषक परिवारों, किरायेदारों और श्रमिकों द्वारा किया जाता था, जबकि मंदिर आय या कर का प्राप्तकर्ता था। अकाल, युद्ध या सिंचाई विफलता से मंदिर की आय भी प्रभावित होती थी। अतः मंदिर और कृषि के बीच संबंध परस्पर निर्भरता का था, किंतु शक्ति समान नहीं थी। संस्था के पास लिखित अधिकार, धार्मिक वैधता और स्थानीय प्रभाव का संयोजन था, जबकि कृषक की स्थिति प्रायः प्रथागत अधिकार और सामुदायिक समर्थन पर निर्भर रहती थी।

मंदिर, शिल्पकार, व्यापारी और सेवा वर्ग

मंदिर निर्माण ने पत्थर काटने वालों, मूर्तिकारों, वास्तुकारों, बढ़ईयों, धातुकारों, चित्रकारों और वस्त्र निर्माताओं के लिए दीर्घकालिक रोजगार उत्पन्न किया। निर्माण के पूर्ण होने के पश्चात भी दीप-पात्र, ध्वज, रथ, आभूषण, वाद्य, वस्त्र, पुष्प और खाद्य सामग्री की निरंतर मांग बनी रही। इससे मंदिर स्थानीय उपभोग का एक प्रमुख केंद्र बन गया। व्यापारी संघ उत्सवों, मार्गों और मंदिरों को दान देकर धार्मिक प्रतिष्ठा के साथ सुरक्षित नेटवर्क स्थापित करते थे। गुरजर-प्रतिहार मंदिरों की अवस्थिति पर किए गए अध्ययन ने कई स्थलों का व्यापार मार्गों और नदी-पथों से निकट संबंध प्रदर्शित किया है (गौतम, 2023)।

कर्नाटक के कलामुख मंदिर के आर्थिक नेटवर्क का विश्लेषण दर्शाता है कि मठ-मंदिर, स्थानीय दानदाता, पेशागत समूह और क्षेत्रीय सत्ता आपस में जुड़े हुए थे (अडिगा, 2023)। चोल मंदिरों में नर्तकियों और संगीतकारों को भूमि-अंश, धान या नियमित भुगतान प्रदान किया जाता था। इन महिलाओं की भूमिका केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं थी; वे अनुष्ठान की समय-संरचना और राजकीय समारोह का अभिन्न हिस्सा थीं। हालांकि, संस्थागत संरक्षण के साथ उनके शरीर, श्रम और निवास पर नियंत्रण भी संभवतः जुड़ा हो सकता था। इसी प्रकार, निम्न सेवागत समूहों को रोजगार मिला, लेकिन उनकी सेवा जातिगत और वंशानुगत बंधनों में सीमित रह सकती थी (ऑर, 2000)।

स्थानीय समुदाय में मंदिरों का महत्व

मंदिर सामुदायिक कैलेंडर, उत्सव, यात्रा और सार्वजनिक सभा का केंद्र था। वार्षिक जुलूस देवता को गर्भगृह से बाहर लाकर ग्राम, बाजार और राजमार्ग से जोड़ते थे। इस प्रक्रिया में सामाजिक समूह अपने निर्धारित स्थान, सेवा और सम्मान प्रदर्शित करते थे। मंदिर परिसर में दान की घोषणा, समझौते, भूमि-विक्रय और कभी-कभी विवाद-निपटान होने से वह सार्वजनिक अधिकार का मंच बनता था।

मंदिर से संबंधित अन्नदान, जल-व्यवस्था, पाठशाला या विश्राम सुविधाएँ सामाजिक संरक्षण प्रदान कर सकती थीं, किंतु इन सेवाओं की उपलब्धता सर्वत्र समान नहीं थी। प्रवेश, प्रसाद, सम्मान और अनुष्ठानिक निकटता जाति और पद द्वारा नियंत्रित हो सकती थी। अतः, मंदिर सामाजिक एकता का केंद्र होने के बावजूद सामाजिक सीमाओं का उत्पादक था। इसकी शक्ति का आधार यही था कि वह समुदाय को एकत्र करता और उसी क्षण उसे श्रेणियों में व्यवस्थित भी करता था।

राज्य सत्ता, अभिजात वर्ग और मंदिर संरक्षण

राजकीय संरक्षण का प्रमुख पहलू वैधता था। राजा देवता को भूमि प्रदान करता, मंदिर का निर्माण कराता या विजय से अर्जित धन अर्पित करता था; इसके बदले में शिलालेख उसे धर्मरक्षक, विजेता और आदर्श दाता के रूप में प्रस्तुत करते थे। मंदिर में राजकीय नाम, प्रतिमा, उत्सव और विजय-स्मृति सत्ता को पवित्र काल से जोड़ते थे। वेलुथत के अनुसार, मंदिर और राज्य ने दक्षिण भारत में आपसी समर्थन विकसित किया: राज्य ने संसाधन प्रदान किए और मंदिर ने शासन को धार्मिक-सामाजिक वैधता दी (वेलुथत, 2017)।

यह संबंध केवल महान सम्राटों तक सीमित नहीं था। छोटे नरेश और स्थानीय प्रभु भी मंदिर संरक्षण के माध्यम से क्षेत्रीय अधिकार स्थापित करते थे। पालुवूर के पालुवेत्तरैयार जैसे स्थानीय शासकों पर नवीनतम अध्ययन दर्शाता है कि छोटे राज्य की राजनीतिक पहचान अभिलेख, मंदिर, वैवाहिक संबंध और चोल अधिराज्यता के बीच निर्मित हुई (गिलेट, 2024)। इस प्रकार, मंदिर संरक्षण केंद्रीकरण का एक साधन भी हो सकता था और स्थानीय अभिजात्य की स्वायत्तता का भी।

अनुष्ठानिक शक्ति एवं सामाजिक वैधता

अनुष्ठानिक शक्ति का तात्पर्य केवल पुरोहितीय अधिकार से नहीं, बल्कि उस क्षमता से है जिसके माध्यम से सामाजिक और राजनीतिक दावे पवित्र तथा सार्वजनिक स्वरूप ग्रहण करते थे। अभिषेक, प्रतिष्ठा, महोत्सव, राजकीय जन्मदिन, विजय-उत्सव और दान-पाठ राजा तथा दानदाता को देवता के संरक्षण से संबंधित करते थे। देवता के समक्ष अर्पित वस्तु सामान्य संपत्ति से देवद्रव्य में परिवर्तित हो जाती थी; इसके उपयोग पर धार्मिक निषेध और सार्वजनिक निगरानी दोनों लागू होते थे।

अनुष्ठान में पदानुक्रम स्पष्ट था। कौन देवता के निकट खड़ा होगा, किसे प्रथम प्रसाद प्राप्त होगा, कौन ध्वज उठाएगा, किस समूह का संगीत बजेगा और कौन दान-पाठ करेगा—ये अधिकार सामाजिक प्रतिष्ठा के संकेत थे। केरल के उदाहरण में वैदिक पाठ और मंदिर अनुष्ठान के संबंध को प्रतिष्ठा, पात्रता, प्रतिस्पर्धा और संरक्षण की अर्थव्यवस्था से जोड़ा गया है (गालेविच, 2023)। अतः अनुष्ठान संसाधनों से पृथक आध्यात्मिक क्रिया नहीं थी; यह संसाधनों पर अधिकार को वैध और दृश्य बनाने की प्रक्रिया थी।

जाति, पेशागत वर्ग और मंदिर संरचना

मंदिर ने विभिन्न जातियों और पेशागत समूहों को एक संस्थागत ढाँचे में समाहित किया, किंतु यह एकीकरण समानता पर आधारित नहीं था। ब्राह्मण पुरोहित और विद्वान अनुष्ठानिक अधिकार के शीर्ष पर स्थित थे; लेखाकार और प्रबंधक रिकॉर्ड तथा संसाधनों का नियंत्रण करते थे; कृषक, कारीगर, संगीतकार, नर्तक, माली, चरवाहे और सफाईकर्मी निर्धारित सेवाएँ प्रदान करते थे। मंदिर ने पेशागत विशेषीकरण को स्थिर रोजगार प्रदान किया, किंतु कई सेवाएँ वंशानुगत होने के कारण सामाजिक गतिशीलता को सीमित कर सकती थीं।

मंदिर अभिलेख प्रायः दाताओं और उच्च सेवकों के नामों को दर्ज करते हैं, जबकि श्रमशील समूह सामूहिक पदनामों में प्रदर्शित होते हैं। यह अभिलेखीय विषमता शक्ति-संबंधों को दर्शाती है। फिर भी, निम्न या मध्यम सामाजिक समूहों द्वारा किए गए छोटे दान, दीप-व्यवस्था और सामूहिक भेंट यह संकेत देते हैं कि मंदिर केवल एक अभिजात संस्था नहीं था; अधीनता के भीतर भी भागीदारी, प्रतिष्ठा और सामुदायिक एजेंसी के सीमित अवसर विद्यमान थे।

क्षेत्रीय उदाहरण: दक्षिण, पूर्व, और उत्तर भारत

दक्षिण भारत में पल्लवों ने कांचीपुरम और तटीय केंद्रों पर स्थापत्य संरक्षण के माध्यम से शैव-वैष्णव संस्थाओं को राजसत्ता से जोड़ा। चालुक्य और राष्ट्रकूट क्षेत्रों में मंदिर और मठ कृषि-भूमि, शिक्षण और स्थानीय अभिजात संरक्षण से संबंधित थे। कलामुख संस्थाओं के नेटवर्क से यह स्पष्ट होता है कि संप्रदाय, भूमि और नगर-समाज के बीच घनिष्ठ संबंध था (अडिगा, 2023)। चोल काल में यह संरचना और अधिक विस्तृत रूप में प्रकट होती है। तंजावुर के राजराजेश्वर मंदिर के अभिलेख भूमि, स्वर्ण, दीप, नर्तकियों, संगीतकारों और प्रशासनिक कर्मचारियों का विस्तृत विवरण प्रदान करते हैं। चोल मंदिर-नगर कृषि क्षेत्र, सिंचाई और वाणिज्यिक गतिविधियों को एक केंद्रीकृत पवित्र स्थल से जोड़ते थे (हाइट्ज़मैन, 1987)।

पूर्वी भारत में पाल शासन बौद्ध महाविहारों के संरक्षण के लिए विख्यात है, किंतु ब्राह्मणिक और स्थानीय मंदिर संस्थाएँ भी भूमि-अनुदान से संबंधित थीं। सेन काल में ब्राह्मणिक संरक्षण और भूमि-अधिकार का महत्व बढ़ा। ओडिशा में मंदिर, राजसत्ता और क्षेत्रीय पहचान का संबंध विशेष रूप से प्रबल रहा; हालाँकि प्रत्येक संस्था की आर्थिक क्षमता समान नहीं थी। दक्षिण कोसल के मंदिरों और व्यापार मार्गों के स्थानिक अध्ययन से धार्मिक स्थलों, बाजारों और क्षेत्रीय संपर्क के बीच संबंध की पुष्टि होती है (श्रीवास्तव, बंद्योपाध्याय एवं अग्रवाल, 2024)।

तालिका 1: क्षेत्रीय मंदिर अर्थव्यवस्था की तुलनात्मक विशेषताएँ

क्षेत्र/वंश	मुख्य आर्थिक आधार	संस्थागत संबंध	प्रमुख ऐतिहासिक प्रभाव
पल्लव एवं चोल	देवदान भूमि, धान, स्वर्ण और कर-अंश	सभा, उर, नगरम् और राजकीय अधिकारी	सिंचाई, मंदिर-नगर, शिल्प और राजकीय वैधता
चालुक्य एवं राष्ट्रकूट	भूमि, मठ-मंदिर दान और स्थानीय संरक्षण	संप्रदाय, सामंत और पेशागत नेटवर्क	क्षेत्रीय केंद्र, शिक्षा और शिल्प संरक्षण
पाल एवं सेन	महाविहार/मंदिर भूमि और ब्राह्मणिक अनुदान	राजसत्ता, धार्मिक प्रतिष्ठान और ग्रामीण समाज	कृषि-विस्तार तथा सांस्कृतिक पुनर्संयोजन
प्रतिहार, गहड़वाल और राजपूत	दान, तीर्थ, बाजार और मार्ग-संबद्ध आय	राजा, सामंत, व्यापारी और तीर्थ-समुदाय	व्यापारिक संपर्क, क्षेत्रीय पहचान और वैधता

उत्तर और पश्चिम भारत में प्रतिहार, परमार, चौहान, गहड़वाल तथा अन्य राजपूत वंशों ने मंदिर संरक्षण को राजकीय प्रतिष्ठा और क्षेत्रीय अधिकार से संबंधित किया। पश्चिमी भारत के हाट और मंडपिका कृषि-अधिशेष, मेले, मंदिर और व्यापारिक गतिविधियों से विकसित हुए (गुप्ता, 2020)। गुरजर-प्रतिहार मंदिरों का व्यापार-पथों के निकट होना यह दर्शाता है कि धार्मिक स्थल यात्रियों, विनिमय और सांस्कृतिक संपर्क के केंद्र थे (गौतम, 2023)। मालवा के अभिलेख गैर-राजकीय दानदाताओं और स्थानीय समाज की सक्रिय भूमिका को प्रदर्शित करते हैं (घटक, 2023)। गहड़वाल कालीन वाराणसी जैसे तीर्थ-केंद्र में मंदिर, दान, घाट और बाजार परस्पर जुड़े हुए थे। इस क्षेत्रीय तुलना से स्पष्ट है कि मंदिर अर्थव्यवस्था का कोई एक अखिल भारतीय मॉडल नहीं था; इसका स्वरूप स्थानीय कृषि, राजवंशीय शक्ति, व्यापारिक मार्ग और संप्रदाय के अनुसार परिवर्तित होता था।

मंदिर अर्थव्यवस्था के सामाजिक प्रभाव

मंदिर अर्थव्यवस्था ने स्थानीय समाज पर पाँच प्रमुख प्रभाव डाले। उसने कृषि और सिंचाई में दीर्घकालीन निवेश के लिए संस्थागत आधार दिया; पेशागत समूहों को नियमित माँग और रोजगार प्रदान किया; मेले, यात्राओं और बाजारों को प्रोत्साहित किया; राजकीय तथा स्थानीय दाताओं की प्रतिष्ठा को स्थायी बनाया; और जातिगत-पेशागत संबंधों को धार्मिक भाषा में व्यवस्थित किया। आधुनिक स्थानिक अध्ययन भी मंदिर को नगर-विकास और सामाजिक समेकन के उत्प्रेरक के रूप में पहचानते हैं (गुप्ता, गहलोत एवं मित्रा, 2025)।

इन प्रभावों को स्वयमेव लोककल्याण नहीं माना जा सकता। पुनर्वितरण का बड़ा भाग पूजा और संस्था की प्रतिष्ठा पर केंद्रित था। दान से मिलने वाला लाभ उन समूहों को अधिक मिलता था जिनकी मंदिर प्रबंधन तक पहुँच थी। साथ ही भूमि और सेवा के धार्मिक स्थायीकरण ने सामाजिक असमानताओं को दीर्घजीवी बनाया। अतः मंदिर अर्थव्यवस्था विकास, संरक्षण और प्रभुत्व—तीनों की संयुक्त प्रक्रिया थी।

आलोचनात्मक विश्लेषण

मंदिर अर्थव्यवस्था की व्याख्या में तीन अतिशयोक्तियों से बचना चाहिए। पहली, हर मंदिर को विशाल भूमिधर और बैंक मान लेना। अनेक मंदिर छोटे थे और अनिश्चित दान पर निर्भर रहते थे। दूसरी, मंदिर को पूर्णतः लोककल्याणकारी संस्था मानना। उपलब्ध अभिलेख मंदिर के व्यय को दिखाते हैं, पर यह नहीं सिद्ध करते कि सभी सामाजिक समूहों को समान लाभ मिला। तीसरी, मंदिर को केवल सामंती शोषण का साधन मानना। ऐसा दृष्टिकोण बाजार, शिल्प, नगरीकरण, गैर-राजकीय दान और स्थानीय सहभागिता की सक्रियता को कम करके देखता है।

अधिक उपयुक्त दृष्टि मंदिर को लेन-देन और वैधता के नेटवर्क के रूप में देखती है। भूमि ने नियमित आय दी; अनुष्ठान ने उस आय के उपयोग को पवित्र उद्देश्य से जोड़ा; शिलालेख ने अधिकार और स्मृति को सार्वजनिक बनाया; और संरक्षण ने राजा, स्थानीय अभिजात, व्यापारी तथा सेवा समूह को एक असमान किंतु परस्पर निर्भर व्यवस्था में बाँधा। हाइट्ज़मैन का लेन-देनात्मक दृष्टिकोण और नवीन स्थानीय अध्ययनों का सूक्ष्म विश्लेषण इस बहुस्तरीयता को समझने में सहायक है (हाइट्ज़मैन, 1991; गिलेट, 2024)।

यह भी आवश्यक है कि इतिहासकार अनुष्ठानिक शक्ति को केवल विचारधारा न समझें। अनुष्ठान के लिए भूमि, श्रम, अन्न, वस्त्र, धातु और समय की आवश्यकता होती थी; इसलिए उसकी भौतिक लागत थी। उसी प्रकार भूमि-अधिकार केवल आर्थिक नहीं था, क्योंकि देवता के नाम पर दान उसे धार्मिक संरक्षण देता था। मध्यकालीन मंदिर में पवित्र और भौतिक क्षेत्र एक-दूसरे में अंतर्निहित थे। इस अंतर्संबंध ने मंदिर को स्थानीय समाज में असाधारण स्थायित्व दिया, किंतु उसी स्थायित्व ने असमान अधिकारों को भी दीर्घकालीन रूप प्रदान किया।

निष्कर्ष

मध्यकालीन भारत में मंदिर अर्थव्यवस्था भूमि, संरक्षण और अनुष्ठानिक शक्ति के संगम पर निर्मित एक केंद्रीय सामाजिक व्यवस्था थी। मंदिर ने कृषि-अधिशेष को धार्मिक उद्देश्य के लिए संगठित किया, दान को स्थायी आय में बदला, शिल्प और व्यापार की माँग उत्पन्न की तथा स्थानीय समाज के विविध समूहों को सेवा और प्रतिष्ठा के क्रम में जोड़ा। राजा और सामंत मंदिर के माध्यम से धर्मसम्मत वैधता प्राप्त करते थे, जबकि व्यापारी और स्थानीय दाता सार्वजनिक स्मृति तथा सामाजिक स्वीकृति अर्जित करते थे।

भूमि-अनुदानों ने कृषि-विस्तार, सिंचाई और क्षेत्रीय राज्य-निर्माण में योगदान दिया, पर उनसे कर और अधिकारों का पुनर्वितरण भी हुआ। मंदिर ने संरक्षण और रोजगार के अवसर दिए, किंतु जातिगत अनुक्रम, श्रम-अधीनता और संसाधनों पर अभिजात नियंत्रण को भी सुदृढ़ किया। इसलिए मंदिर न तो केवल धार्मिक भवन था, न केवल आर्थिक निगम और न ही केवल शोषक भूमिधर। वह एक बहुस्तरीय ऐतिहासिक संस्था थी जिसकी शक्ति पवित्रता, लेखांकन, भूमि-अधिकार, सार्वजनिक अनुष्ठान और राजनीतिक संरक्षण को एक साथ संचालित करने में निहित थी।

क्षेत्रीय विविधता के बावजूद एक व्यापक निष्कर्ष सामने आता है: मध्यकालीन भारत में स्थानीय समाज, भूमि-संबंध, सत्ता-संरचना और सांस्कृतिक वैधता को आकार देने में मंदिर अर्थव्यवस्था की भूमिका केंद्रीय थी। उसके इतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन हमें यह समझने में सहायता देता है कि धार्मिक संस्थाएँ संसाधनों का केवल उपभोग नहीं करतीं; वे उत्पादन, वितरण, पहचान और अधिकार की सामाजिक संरचनाओं को भी निर्मित करती हैं।

संदर्भ सूची

[1] Adiga, M. (2023). Economic networks of a Kalamukha temple. Proceedings of the Indian History Congress, 82, 274–282.

[2] Archaeological Survey of India. (2021). Annual Report on Indian Epigraphy, 2019–2020. Government of India.

[3] Champakalakshmi, R. (1996). Trade, ideology and urbanization: South India 300 BC to AD 1300. Oxford University Press.

[4] Chattopadhyaya, B. D. (2020). The making of early medieval India (2nd ed., reprint). Oxford University Press.

[5] Das, D. (2023). Mapping the Goṇḍrama territory and the emergence of a local polity: A case study of the Tuṅga land grants (9th–10th century CE). Proceedings of the Indian History Congress, 82, 283–292.

[6] Galewicz, C. (2023). The Veda and the patronage economy of the Hindu temple: An early modern case from Kerala. Cracow Indological Studies, 25(2). https://doi.org/10.12797/CIS.25.2023.02.01

[7] Gautam, S. (2023). Temples as arteries of trade and economic interaction: A case study of the Gurjara-Pratihara temples of North India. In D. Karampas & A. Falezza (Eds.), Interactions, trade, and mobility in archaeology (pp. 116–120). BAR Publishing.

[8] Ghatak, A. (2023). Social dimensions of religious patronage in the early medieval period: A study of inscriptions from Malwa, c. 8th to 13th century. Proceedings of the Indian History Congress, 82, 358–365.

[9] Gillet, V. (2024). Minor majesties: The Paluvēṭṭaraiyars and their South Indian kingdom of Paluvūr, 9th–11th centuries A.D. Oxford University Press. https://doi.org/10.1093/oso/9780197757710.001.0001

[10] Gupta, C., Gahalot, R. D., & Mitra, T. (2025). Analysing the spatial organization of Indian temple towns through a classification framework. Indian Journal of Traditional Knowledge, 24(5), 476–486. https://doi.org/10.56042/ijtk.v24i5.14657

[11] Gupta, G. (2020). Emergence and spread of exchange centres in early medieval western India.

Indian Historical Review, 47(1). https://doi.org/10.1177/0376983620922404

[12] Heitzman, J. (1987). Temple urbanism in medieval South India. The Journal of Asian Studies, 46(4), 791–826. https://doi.org/10.2307/2057102

[13] Heitzman, J. (1991). Ritual polity and economy: The transactional network of an imperial temple in medieval South India. Journal of the Economic and Social History of the Orient, 34(1/2), 23–54.

[14] Orr, L. C. (2000). Donors, devotees, and daughters of God: Temple women in medieval Tamilnadu. Oxford University Press.

[15] Shrivastava, S., Bandyopadhyay, A., & Agrawal, V. (2024). Regional setting of temples in Dakshina Kosala, India: Spatial distribution and connections. Architecture and Engineering, 9(1).

[16] Singh, U. (2024). A history of ancient and early medieval India: From the Stone Age to the 12th century (2nd ed.). Pearson Education.

[17] Stein, B. (1960). The economic function of a medieval South Indian temple. The Journal of Asian Studies, 19(2), 163–176. https://doi.org/10.2307/2943547

[18] Veluthat, K. (2017). The temple and the state in medieval South India. Studies in People's History, 4(1), 15–23. https://doi.org/10.1177/2348448917693729